प्रस्तावना -

आदि काल से ही भारत में जाति प्रथा का अस्तित्व रहा है। जाति मनुष्यों के अंतर्विवाही समूह या समूहों का योग है, जिसकी सदस्यता अर्जित न होकर जन्म से प्राप्त होती है जिसके सदस्य समान या मिलते-जुलते पैतृक व्यवसाय करते हैं और जिसकी विभिन्न शाखाएँ समाज के अन्य समूहों की अपेक्षा एक-दूसरे से अधिक निकटता का अनुभव करती है।

भारतीय समाज जातीय सामाजिक इकाईयों में गठित और विभक्त है। श्रम-विभाजन भारतीय ग्राम की कृषि केन्द्रित व्यवस्था की विशेषता रही है। यह जातीय समूह एक ओर तो अपने आंतरिक संगठन से संचालित तथा नियमित है और दूसरी ओर उत्पादन सेवाओं के आदान-प्रदान और वस्तुओं के विनिमय द्वारा परस्पर संबंध है। समान परंपरागत व्यवसाय, समान धार्मिक विश्वास, प्रतीक सामाजिक धार्मिक प्रथाएं और व्यवहार खान-पान के नियम जातीय अनुशासन् और सजातीय विवाह इन जातीय समूहों की आतंरिक एकता को स्थिर तथा दृढ़ करते हैं। इसके अतिरिक्त पूरे समाज की दृष्टि में प्रत्येक जाति तथा जातिगत व्यवसाय प्रकृत तथा अटल है। जातियाँ एक-दूसरे की तुलना में ऊँची तथा नीची हैं। एक ओर ऊपर की जातियाँ धार्मिक रूप से पवित्र तथा सर्वोच्च मानी जाने वाली ब्राहमण वर्ण की जातियाँ हैं और दूसरी ओर सबसे नीचे श्रेणी की अपवित्र तथा अछूत जातियाँ हैं। इनके बीच अन्य सभी जातियाँ हैं जो सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से उच्च, मध्यम, निम्न श्रेणी में रखी जाती है। हिंदू धर्मशास्त्र ने पूरे समाज

को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों में विभक्त किया है।

गाँव में स्थित परिवारों का समूह अपनी बड़ी जातीय इकाई का अंग होता है, जिसका संगठन तथा क्रियात्मक संबंधों की दृष्ठि से एक सीमित क्षेत्र होता है, जिसकी परिधि सामान्यतः 20-25 मील होती। उस क्षेत्र में जाति विशेष की एक विशिष्ट आर्थिक तथा सामाजिक मर्यादा होती है जो उसके सदस्यों को जन्म से परंपरा से प्राप्त होती हैं। यह जातीय मर्यादा जीवन पर्यंत बनी रहती है और जातीय व्यवसाय छोड़कर दूसरा व्यवसाय अपनाने से तथा आमदनी के उतार-चढ़ाव से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह मर्यादा जातीय-व्यवसाय, आर्थिक-स्थिति, धार्मिक-संस्कार, सांस्कृतिक परिस्कार और राजनीतिक सत्ता से निर्धारित होती हैं और निर्धारकों में परिवर्तन आने से इसमें परिवर्तन भी संभव हैं किंतु एक जाति स्वयं अनेक उपजातियों तथा समूहों में विभक्त रहती हैं। इस विभाजन का आधार एक ही व्यवसाय के अन्दर विशेषीकरण के भेद-प्रभेद से होते हैं। किंतु भौगोलिक स्थानांतरण ने भी एक ही परंपरा धंधा करने वाली एकाधिक जातियों को साथ-साथ रहने का अवसर दिया है। कभी-कभी जब किसी जाति का अंग अपने परंपरागत व्यवसाय के स्थान पर दूसरा व्यवसाय अपना लेता है तो कालक्रम में वह एक पृथक जाति बन जाता है। उच्च हिंदू जातियों में गोत्रीय विभाजन भी विद्यमान हैं। गोत्रों की उपयोगिता यह हैं कि किसी जाति के बहिर्विवाही समूह बनाते हैं और एक गोत्र के व्यक्ति एक ही पूर्वज के वंशज समझे जाते हैं। उप जातियाँ भी अपने स्वतंत्र तथा पृथक अंतर्विवाही

इकाइयाँ होती हैं और वह कभी-कभी बृहत्तर जाति से उनका संबंध नाम मात्र का होता है। इन उप जातियों में ऊँच-नीच का एक मर्यादाक्रम होता हैं। उप जातियाँ भी अनेक शाखाओं में विभक्त रहती हैं और इनमें भी उच्चता निम्नता का एक क्रम होता हैं जो विशेष रूप से विवाह संबंधों में व्यक्त होता हैं। विवाह ऊँची पंक्ति वाले नीची पंक्ति वाले की लड़की ले सकते हैं, किंतु अपनी लड़की उन्हें नहीं देते।

डा० जी० एस० धुरिए ने अपनी पुस्तक **"Cases, Class and Occupation 1961"** में जाति की विशेषता के आधार पर जाति की प्रकृति को बताया है। आपके अनुसार एक जाति से उच्चता निम्नता के आधार पर भिन्नता रखती है। जैसे- जाति लगभग अन्तःविवाही होती है, जातियों में उनके जीवन शैली के आधार पर कुछ भिन्नताएं होती हैं। रहन-सहन, खान-पान के आधार पर विभिन्नता पाई जाती हैं, ब्राह्मण सभी जातियों के यहाँ भोजन नहीं करता, एक जाति का व्यक्ति अपनी जाति के व्यवसाय को करेगा अर्थात जातियों में व्यवसायिक प्रतिबन्ध पाए जाते हैं। सामाजिक धार्मिक निर्योग्यताए भी जातियों में पाई जाती हैं। सभी जातियाँ धार्मिक कार्य नहीं कर सकती।

डा० सक्सेना का मत है कि जाति हिंदू सामाजिक संरचना का एक मुख्य आधार रहा हैं जिससे हिन्दुओं का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन प्रभावित होता रहा है।

भारतीय समाज में जातियाँ कई उपजातियों में बंटी हैं। **श्रीधर केतकर**

ने अपनी पुस्तक **"The History of Caste in India 1909"** में ब्राह्मणों की 800 से अधिक अंतर्विवाही जातियाँ बताई है। सन् 1909 की जनगणना के अनुसार जो जाति गणना की दृष्टि से अधिक शुद्ध मानी जाती हैं, भारत में उनकी (जाति की) संख्या 2378 हैं। **डा० जी०एस० धुरिये** ने अपनी पुस्तक **"Caste Class and Occupation 1961"** में आपनें कहा हैं कि प्रत्येक भाषा क्षेत्र में लगभग 200 जातियाँ होती हैं, यदी इन्हें अंतर्विवाही समूहों में विभक्त किया जाय तो यह संख्या लगभग 3000 हो जाती हैं।

प्राचीन भारतीय समाज से ही जाति व्यवस्था में कठोरता देखी जाती रही हैं, किंतु जाति व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता जाति गतिशीलता हैं जिसके कारण वर्तमान समय में जाति कई उपजातियों में बँटी हुई है। इसी गतिशीलता के कारण वर्तमान आधुनिक भारतीय समाज में जाति व्यवस्था में लचीलापन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन आए हैं। वर्तमान समय में शहरों में लगभग जाति व्यवस्था की कठोरता समाप्त होती दिख रही हैं वहीं गाँवो में भी जाति व्यवस्था की कठोरता के स्वरुप में कुछ परिवर्तन आए हैं। इन परिवर्तनों के पीछें संस्कृतिकरण का प्रभाव है| जिसके द्वारा निम्न जातियाँ उच्च-जातियों की जीवनशैली अपनाकर अपनी सांस्कृतिक परिस्थिति में कुछ सुधार की हैं। पश्चिमीकरण जो कि अंग्रेजों के आगमन से माना जाता है, पश्चिमीकरण ने पश्चिमी मानक-मूल्य (स्वतंत्रता, समानता, तार्किकता, बंधुत्व) ने जाति व्यवस्था की कठोरता में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाये। आधुनिकीकरण ने व्यवसायिक असमानता एवं व्यवसायिक प्रतिबन्ध को

खत्म किया, आधुनिकीकरण के प्रभाव के कारण सभी जातियाँ सभी प्रकार के व्यवसाय करने लगी जिससे जातीय व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। संविधान ने भी जाति व्यवस्था एवं छूआछूत को नामंजूर करते हुए सभी जाति विशेष को समानता का अधिकार दिया। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने भी सभी जातियों को एक मंच पर खड़ा किया जिससे उनमें असमानता की भावना दूर हुई। क़ानूनी रूप से न्याय एवं दण्ड का अधिकार जाति पंचायतों के अधीन न रहने से भी उनकी शक्ति एवं प्रभाव को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं और उनके यह प्रयत्न राजनीतिक गतिविधियों में अभिव्यक्त होते हैं। **M.N. Srinivas** ने अपनी पुस्तक **"Caste in Modern India and Other Essays, 1962"** में आपने यह लिखा की भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अजगर दल (अहीर, जाट, गुज्जर, राजपूत) ने विकास किया हैं। शोषित वर्गों ने अपने आपको संगठित किया है। महाराष्ट्र में 'भीमराव अम्बेडकर' के नेतृत्व में पहले दलित वर्ग संघ और बाद में 'रिपब्लिक पार्टी' बनी और दक्षिण भारत में पहले जस्टिस प्राप्ति और स्वतंत्रता प्राप्ति के 'द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम' का संगठन हुआ। देश के लोकतान्त्रिक निर्वाचनों में जातित्व प्रमुख हो जाता है।

इस प्रकार राजनीति में जाति का विशेष स्थान हो गया है। २०वीं शताब्दी के आरम्भ से ही और भौगोलिक दृष्टि से भी जातिय संगठन व्यापक होते जा रहे हैं और नए राजनीतिक तरीके से अपने आपको संगठित कर रहे हैं।

1.1- अध्ययन का उद्देश्य-

किसी भी लघु शोध की वस्तुनिस्ठता एवं विश्वसनीयता शोध के उद्देश्य पर निर्भर करती है क्योंकि शोध के उद्देश्य ही शोध की वस्तुनिस्ठता को व्यक्त करते हैं। मेरा लघु शोध प्रबंध "राजनीति एवं जाति संबंध " की वस्तुनिस्ठता मेरे निम्नलिखित उद्देश्यों पर निर्भर हैं जो इस प्रकार हैं-

- **राजनीति एवं जाति के मध्य अंतर्संबंध समझना|**
- **जातियाँ किस प्रकार राजनीति को प्रभावित कर रही है|**
- **राजनीति में जातियों की सहभागिता से जातियों में सांस्कृतिक परिवर्तन को समझना|**

1.2- अध्ययन का महत्त्व-

किसी भी देश की राजनीतिक रणनीति ही उस देश की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, संवृद्धि को महत्वपूर्ण गति प्रदान करती हैं। राजनीतिक पद प्राप्त करने वाले लोगों का निर्धारण जनता अपने मतों के द्वारा निर्धारित करती हैं कि किस राजनीतिक व्यक्ति को राजनीतिक पद प्रदान किया जाय। भारतीय राजनीतिक सन्दर्भ में आजादी के बाद से ही भारतीय राजनीति, भारतीय विकास को गति प्रदान करती आ रही हैं अपनी रणनीतियों एवं महत्वपूर्ण फैसलों से। किंतु पिछले लगभग कुछ वर्षों से भारतीय राजनीति में राजनीतिक पार्टियाँ कहीं न कहीं जाति, संप्रदाय, क्षेत्र, आधारित राजनीति करती हुई देखी जा रही हैं। वर्तमान दौर में जहाँ पर विश्व में विकास के आधार पर राजनीति हो रही हैं, इसके साथ ही साथ

भारत के कुछ राज्यों में हाल के कुछ चुनावों में यह स्पष्ट हुआ की विकास, भ्रष्टाचार चुनाव के महत्वपूर्ण मुद्दे (परिणाम) बनकर उभरे हैं। किंतु भारत के ही उ०प्र० के राज्य के कुछ जिलों में अभी भी जाति, क्षेत्र, संप्रदाय, पार्टी आधारित मतदान हो रहे हैं।

राजनीतिक प्रक्रिया को यदि उ०प्र० की राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो उ०प्र० में जाति आधारित राजनीति परिलक्षित हो रही है। राज्य में (लगभग) अपवाद स्वरुप कुछ जिलों को छोड़ लगभग सभी जिलों में पिछले कुछ वर्षों से प्राप्त राजनीतिक आंकड़ों, पंचायती चुनाव, जिला पंचायती चुनाव, ब्लाक प्रमुख चुनाव, के आंकड़ों को देखा जा सकता हैं कि जाति विशेष आधारित जनसंख्या जाति, विशेष आधारित प्रत्याशी को विजयी मत चुनावों में प्राप्त हुए हैं। प्रस्तुत लघु शोध भारत के उ०प्र० राज्य के इलाहाबाद जिले के प्रतापपुर ब्लाक के २ गाँवो भोगवारा एवं उदगी गाँव का अध्ययन किया जाना हैं, इलाहाबाद शिक्षा का केंद्र माना जाता रहा है। किंतु पिछले कुछ वर्षों में इलाहाबाद क्षेत्र में भी जाति आधारित राजनीति दिखायी पड़ रही है| यह सम्पूर्ण तथ्य अध्ययन को महत्वपूर्ण महत्त्व प्रदान करते हैं कि उ०प्र० के इलाहाबाद क्षेत्र का गाँव जो शिक्षा का महत्वपूर्ण केंद्र माना जाता रहा हैं वहां पर जाति आधारित राजनीति, जाति आधारित मतदान जातियों की सहभागिता राजनीति को प्रभावित कर रही हैं, यह जानना अध्ययन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है। प्रस्तुत लघु शोध में इन सभी तथ्यों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

1.3- साहित्य पुनरावलोकन-

अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ **"Caste and Politics in India, 1969"** में **रजनी कोठारी** ने जाति एवं राजनीति के अंतर्संबंधो, जाति का राजनीति में प्रवेश एवं जातियों द्वारा राजनीतिक प्रक्रियाओं में भागीदारी, कर प्रस्थिति परिवर्तन जैसे महत्वपूर्ण तथ्यों को अपने इस पुस्तक में परिलक्षित करते हुए आप कहते हैं कि जाति का राजनीति में द्विज जाति ने प्रवेश कराया। आप अपने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में कहते हैं कि जाति पहले धर्म से संचालित होती थी, जाति की विशेषता बताते हुए कोठारी जी कहते हैं-जाति एक विचारधारा है, अब जाति धर्मनिरपेक्ष विचारधारा हैं, आज जाति के माध्यम से ही एकीकरण उत्पन्न हो रहा है, और इसी एकीकरण का फायदा उठाकर? अर्थात एकीकरण समाज में जाति के आधार पाया जाता है।

कोठारी के अनुसार- राजनीति में जाति का प्रवेश सकारात्मक है, आप इस प्रक्रिया को सकारात्मक मानते हुए कहते हैं कि कम से कम इस प्रक्रिया से नीची (निम्न) जाति का उत्थान हो रहा है। अगर राजनीति में जाति का प्रवेश न होता तो नीची (निम्न) जाति का विकास न होता। जाति के आधार पर राजनीति होती हैं राजनीतिक पार्टियाँ जाति आधारित मतदान प्राप्त करने हेतु निम्न जातियों का विकास करती हैं क्योंकि उन्हें उनका मत प्राप्त करना होता है। अगर जाति के आधार पर राजनीतिक प्रक्रिया का संचालन न होता तो अब तक नीची जाति के लोग विलुप्त हो गए होते। **कोठारी** अपने इस ग्रन्थ में आगे कहते हैं कि जब तक जनता बड़े पैमाने पर राजनीतिक प्रक्रिया

में भागीदारी नहीं करेगी और जाति और वर्ग जैसी सामाजिक संस्थाओं का राजनीतिकरण नहीं होगा तब तक वास्तविक समाज का परिवर्तन नहीं हो सकता। राजनीतिक प्रक्रिया में ही लोग शामिल होकर सचेत होते हैं, बदलते हैं, और आधुनिकीकरण के स्थान पर राजनीतिकरण को परिवर्तन की कुंजी मानते हैं।

कमल नयन चौबे ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक **"जातियों का राजनीतिकरण 2008"** नामक पुस्तक में चौबे जी ने भारतीय जातियों की राजनीतिक सहभागिता के साथ ही साथ बिहार की पिछड़ी एवं निम्न जातियों की सहभागिता को राजनीति में विकासात्मक रूप में देखते हुए अपनी इस पुस्तक में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करते हुए कहते हैं- जाति व्यवस्था भारतीय समाज की ऐसी पहचान है, जो दुनिया के रंगमंच पर इसे विशिष्टता प्रदान करती है। इस व्यवस्था के अन्दर स्थापित जटिल पदसोपानियता या ऊँच-नीच ने सभी प्रकार की सुविधाओं को कुछ सवर्ण या ऊँची जातियों तक सीमित रखा। वहीं पिछड़ी व् दलित जातियाँ युगों तक इस व्यवस्था में शोषण और दमन का शिकार होती रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संविधान ने जाति के आधार पर भेदभाव को ख़ारिज किया। लेकिन देश की लोकतान्त्रिक प्रक्रिया ने जाति के महत्त्व को बढ़ा दिया। लोकतान्त्रिक शासन् की शुरुआत से ही जातियों का राजनीतीकरण हुआ। राजनीति में गोलबंदी के आधार के रूप जाति की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई। पिछले कुछ दशकों में लोकतान्त्रिक राजनीति के बलबूते पिछड़ी जातियों का एक

जबरजस्त उभार देखा गया है। चौबे जी आगे कहते हैं कि यह सच है कि जाति में बदलाव आये हैं। पदसोपानीयता या ऊँच -नीच की संरचना के रूप में यह कमजोर हुई है। लेकिन चुनावी राजनीति ने जातिगत पहचान को मजबूती प्रदान की है। दरअसल, जाति आधारित लोकतान्त्रिक राजनीति एक ऐसा आधार प्रदान करती है, जिसके माध्यम से सभी जातियाँ समान स्तर से सत्ता के लिए प्रतियोगिता कर सकती हैं।

कुछ अध्ययनों से यह बात साफ़ तौर पर सामने आई है कि जाति ने संवैधानिक तंत्र के लोकतंत्रीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। व्यवहार में देखा गया है की जाति हमारी संसदीय व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित करता है। आमतौर पर यह देख जाता है कि एक ही जाति के लोग अपनी ही जाति के उम्मीदवार को वोट देने को प्राथमिकता प्रदान करते हैं या फिर जाति-पंचायत या इसी प्रकार किसी संस्था द्वारा निर्धारित उम्मीदवार को वोट देते हैं इसलिए राजनीतिक दलों द्वारा चुनावों के लिए उम्मीदवार चुनते समय जाति एक महत्वपूर्ण कारक का कार्य करती है। लेकिन यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि सिर्फ जाति ने ही राजनीति को प्रभावित नहीं किया है, बल्कि राजनीति ने भी जाति की संरचना और संगठन पर महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा है। सत्ता और सुविधाओं के असमान वितरण के प्रति जागरूक बहुत सी जाति-समूह राजनीति को संगठन हेतु वाहन के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार के जाति-संघ या सभाएं हैं, जो शक्तिशाली दबाव समूहों की भूमिका अदा करती है। जाति-सभाएं सार्वजानिक रूप से जाति पर

आधारित मुद्दों या जाति के हितों को महत्त्व देते हुए जातियों को संगठित करने का प्रयास करती हैं और इसके माध्यम से राजनीतिक दलों को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार जाति राजनीति में एक सक्रिय तत्व के रूप में अपनी भूमिका निभाती हैं।

औपनिवेशिक काल के सीमित लोकतंत्र से लेकर वर्तमान बालिका मताधिकार तक बिहार की राजनीति में जाति ने महत्वपूर्ण भूमिका के ज्यादा मजबूत होने का कारण यह है कि यहाँ हाशिये पर पड़ी जातियों ने राजनीतिकरण को परिवर्तन के साधन के रूप में इस्तेमाल किया है। लोकतंत्र की समावेशी प्रकृति ने हाशिये पर पड़े समूहों में राजनीतिक जागरूकता और सक्रियता को बढाया है। इसका नतीजा यह हुआ कि राज्य की राजनीति मेंऊँची जातियों की वर्चस्वशाली भूमिका कमजोर हो गई।

अपनी एक महत्वपूर्ण पुस्तक **"भारतीय समाज और दलित राजनीति 2006"** में **चंद्रभान प्रसाद** ने अपने विभिन्न विषयों के लेखों को संकलित रूप में एक पुस्तक का आवरण देते हैं राजनीतिक प्रक्रिया, संबंधी अपने विचार उ०प्र० के राजनीति परिप्रेक्ष्य में रखते हुए कहते हैं- अगस्त 14, 1996 को दिल्ली में हुए सेमिनार में चंद्रभान प्रसाद ने अपने विषय "**Social Change in India since Independence–A Dalit Parspective"** नाम विषय पर प्रसाद जी अपने भाषण में कहते हैं, मैं अकेला वक्ता था जिसने दलित-ब्राह्मण गठजोड़ सिद्धांत की व्याख्या की थी। आप एक चिन्तक के रूप में अपने भाषण में यह सम्भावना व्यक्त की थी कि मेरी दृष्टि में समाज दलित-

ब्राह्मण गठजोड़ की दिशा की ओर बढ़ रहा है, आपने सामाजिक डायनामिक्स की व्याख्या अपने भाषण में दी।

अगस्त 16, 1996 को प्रतिष्ठित अंग्रेजी दैनिक अख़बार **"The Economic Times"** ने प्रसाद के भाषण के कुछ अंश छापे। प्रसाद जी आगे कहते हैं की जब मैंने दलित एवं ब्राह्मण गठजोड़ की संभावनाओं की व्याख्या अपने भाषण में व्यक्त की तो उस समय दलित समुदाय के कुछ लोग जो बहुजन सिद्धांत को मानते हैं वह मुझसे खासे नाराज थे। आज वे ही लोग, उत्तर प्रदेश के शहरों में "ब्राह्मण-दलित" सम्मेलनों का आयोजन कर रहे हैं। प्रसाद जी कहतें हैं लगभग १० साल पहले मैंने जिस सामाजिक डायनामिक्स की संभावनाओं को व्यक्त किया था आज उसी पर दलित राजनीति चल रही हैं। आपके शब्दों में रामविलास पासवान की लोक जन शक्ति पार्टी भी दलित-द्विज गठजोड़ के अलावा और कुछ नहीं हैं।

वर्ष 1947 में भारत पूर्णतः द्विजों के प्रभुत्व में था। **बाबा साहब डा० भीमराव अम्बेडकर** द्वारा रचित संविधान ने उस प्रभुत्व को तोड़ने का क़ानूनी एवं वैचारिक बीज रोपित कर दिया था। जमीन, नौकरियां, राजनीति, शिक्षा आदि से द्विज प्रभुत्व टूटने लगा। उक्त टूटन से उत्पन्न अवसरों को प्राप्त करने के लिए दलित एवं ओ०बी०सी० आगे आये। उन अवसरों पर अधिकाधिक हक़ जताने के लिए दलित-ओ०बी०सी० प्रतियोगी हो गए। वह प्रतियोगिता द्वंद्व में तब्दील हो गयी और वह द्वंद्व संघर्ष में।

चूँकि दलित सामाजिक अल्पसंख्यक हैं तथा इनका कोई सामाजिक

मित्र नहीं हैं, इसलिए इन्हें एक सामाजिक सहयोगी की तलाश है।

दूसरी ओर, राज्य स्तर में, ब्राह्मण सत्ता से बाहर हो गए तथा केंद्रीय सत्ता में भी कमजोर पड़ गए। ब्राह्मण समाज लगातार राजनीतिक अछूत बनते गए, तथा उन्हें भी एक सामाजिक मित्र की तलाश है इसलिए, अपने-अपने अलग कारणों से दलित-ब्राह्मणों का एक मंच पर आना एक राजनीतिक मजबूरी बन गयी। इस सामाजिक डायनामिक्स पर व्यक्ति का नियंत्रण नहीं है। **प्रसाद** आगे कहते हैं, एक चीज जो बिल्कुल हमारे सामने खड़ी है, संसद का बदलता जातीय चरित्र। भारतीय राजनीति में कुछ जातियों का बढ़ता वर्चस्व क्या यही तो वह भौतिक कारण नही है जो भारत में डी-डेमोक्रेटाईजेशन के लिए उत्तरदायी है? और जिसकी अभिव्यक्ति उत्तर प्रदेश की राजनीति में हो रही है?

विद्वान लेखक **ग्रानविकल ऑस्टिन** ने अपनी पुस्तक **"The Indian Constitution"** में संविधान सभा के सदस्यों की तस्वीर पेश की है। सभा के 48 सदस्यों की जातिगत पहचान मालूम नहीं हो पाई। कुल सदस्यों में 85.8 प्रतिशत द्विज, दलित या अल्पसंख्यक थे तथा 14.2 प्रतिशत शूद्र या ओ०बी०सी० थे। फ्रांसीसी विद्वान **क्रिस्टोफे जफ़र लाट** ने अपने **"The General of Assian Studies"** में महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी है। सन् 1952 की प्रथम लोक सभा में हिंदी भाषी क्षेत्र के कुल 203 सांसदों में 63.51 प्रतिशत द्विज, 21.18 प्रतिशत दलित, 12.24 प्रतिशत अल्पसंख्यक एवं मात्र 05.45 प्रतिशत शूद्र या ओ०बी०सी० थे। लेकिन वर्ष 1998 में 12वीं लोकसभा में बड़ा

परिवर्तन आया। हिंदी भाषी क्षेत्र में लोक सभा की कुल 225 सांसदों में द्विजों का प्रतिशत गिरकर 34.63 प्रतिशत रह गया, तथा ओ०बी०सी० सांसदों का प्रतिशत बढ़कर 31.94 प्रतिशत हो गया। **चंद्रभान प्रसाद** जी कहते हैं मेरी स्वयं की सूचना में दक्षिण भारत के 3 प्रमुख राज्यों आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक एवं तमिलनाडु से कुल 193 सांसदों में मात्र 3 ब्राह्मण थे। एक मोटे अनुमान के अनुसार, वर्तमान लोक सभा में शूद्र ओ०बी०सी० सांसदों की भागेदारी 49 प्रतिशत से कहीं अधिक है। राज्य विधान सभाएं लगभग ओ०बी०सी० के हांथों में चली गयी, उत्तरांचल, हिमांचल प्रदेश एवं मध्य प्रदेश अपवाद हैं।

स्वतंत्र भारत में यदि समाज एवं राजनीति के अपराधीकरण का एक ग्राफ बनाया जाय, तो यह भारतीय समाज में शूद्र,ओ०बी०सी० के समाज एवं राजनीति पर बढ़ते वर्चस्व के सामानांतर चलेगा, जिसकी शुरुआत सन् 1967 से होती है। वस्तुतः शूद्र या ओ०बी०सी० जातियाँ जब भूमि सम्पदा, ग्रामीण संस्थाओं, राजनीति पर अपना वर्चस्व कायम कर लेती हैं, तब इन्हें सामाजिक एवं सांस्कृतिक वर्चस्व की आवश्यकता पड़ती है जिसे न तो दलित मानते हैं, और न ही द्विज संस्कृत प्रदान करते हैं। कानून के शासन् के पूर्व वर्ण-व्यवस्था का विधान था, तथा द्विज जातियाँ समाज पर मनचाहा शासन् करती थीं, तब शूद्र भी उत्पीड़ित थे।

अब शूद्र जातियाँ जैसे कुर्मी, लोम, गुर्जर, पासी, चमार आदि भू-स्वामी बन चुकी हैं, स्थानीय ट्रांसपोर्ट, ठेकादारी आदि पर इनका कब्ज़ा हो गया है।

अतः अब इन्हें उस प्रजा की तलाश है जिस पर गुजरे जमाने के राजपूतों एवं ब्राह्मणों की तरह अत्याचार कर उसका आनंद उठा सके। तब लोकतंत्र नहीं था, ब्राह्मण-राजपूत आनंद लूटते रहे। अब लोकतंत्र या डेमोक्रेशी है, डेमोक्रेशी में यह सब कानून-विरुद्ध है। इन जातियों से ब्राह्मण-बनिया भी त्रस्त हैं, क्योंकि अब ब्राह्मण-बनिया पी०डब्लू०डी० या शराब के ठेकदार नहीं बन सकते। ओ०बी०सी० जातियाँ इनसे पहले जमीने छीन लीं, अब फायदे वाले अन्य पेशे भी छीन रही हैं। ओ०बी०सी० पहले ब्राह्मण-बनिया-राजपूत सांसदों-विधायकों के बंगले पर चौकीदारी करती थीं, अब ब्राह्मण-बनिया-राजपूत ओ०बी०सी० संसद विधायक के यहाँ P.A. का काम करते हैं कुछ रसोइये के काम करते हैं।

चंद्रभान प्रसाद जी अपने एक लेख **बसपा और ब्राह्मण में लिखते हैं, पिछले कुछ वर्षों से "हाथी नहीं गणेश हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं**, *पंडित शंख बजाएगा, हाथी बढ़ता जायेगा" जैसे नारे के साथ बसपा का "महाब्राह्मण" सम्मलेन उत्तर-प्रदेश की राजनीति में चल रहे हैं। हजारों की संख्या में ब्राह्मण इन सम्मेलनों में भाग ले रहे हैं और यह सम्मलेन काफी हद तक सफल भी हो रहे हैं। बसपा के इन आयोजनों में "शंख" का उपयोग एवं "तिलक" का सम्मान किया जा रहा है। बसपा के आलोचक इस घटना को सुश्री मायावती का अवसरवाद करार दे सकते हैं। यह भी कह सकते हैं कि मायावती जी कांशीराम के मिशन से भटक गई है। इन आलोचनाओं को यदि क्षण भर के लिए वैध भी मान लिया जाय, तो हमें उन प्रश्नों के भी हल

ढूढ़ने होंगे जो महाब्राह्मण सम्मलेन को समझने में सहायक हो सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है की ऐसा क्या हो गया कि जो ब्राह्मण दलितों द्वारा छू दिए गए बर्तन को भी अपवित्र समझते थे, वही ब्राह्मण आज दलित नेता सुश्री मायावती जी के चरण छू लेना चाहते हैं। वे मायावती को चाँदी का ताज पहना रहे हैं तथा बसपा की प्रगति के लिए मंत्रोच्चारण कर रहे हैं।

भारत के ज्ञात इतिहास में ऐसा पहली बार हो रहा है जब कोई गैर ब्राह्मण समूहों ब्राह्मण सम्मेलनों का आयोजन कर रहा है। इन सम्मेलनों में ब्राह्मणों द्वारा बढ़-चढ़ के की जा रही भागेदारी को बसपा एवं ब्राह्मणों के गठजोड़ के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। कांशीराम एवं उनके लाखों अनुयायियों जिनमे सुश्री मायावती भी शामिल हैं, ने पूरे देश में यह बात कही कि दलित-ओ.बी.सी.-अल्पसंख्यक भारतीय समाज के सामान्य शिकार है तथा इन तीनों का साझा शत्रु द्विज हैं, जिनका नेतृत्व ब्राह्मण करते हैं। लेकिन लाख कोशिशों के बावजूद उत्तर प्रदेश में बसपा का वोट बैंक 21 प्रतिशत के इर्द-गिर्द आकर ठहर गया। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो न तो ओ.बी.सी. और न ही अल्पसंख्यक ने कांशीराम की बात सुनी। बसपा नेत्री मायावती राजनीति के व्यवहारिक जगत में हैं तथा उन्हें समाज की उस हलचल से सामना करना पड़ता है जिसका सामना सिद्धांत समझने व गढ़ने वाले विद्वानों का नहीं होता। सच्चाई यह है कि दलित एक अल्पसंख्यक सामाजिक समूह है जिनका कोई सामाजिक मित्र नही है। अतः दलितों का शत-प्रतिशत वोट मिल जाने के बाद भी दलितों के हाथ राजसत्ता नहीं आ

सकती। राजनीति का अर्थ ही राजसत्ता से होता है तथा राजसत्ता से दूर बने रहकर लम्बे समय तक न तो राजनीति की जा सकती है और न ही उसका कोई अर्थ होता है। अतः सत्ता तक यदि पहुँचाना है तो किसी और सामाजिक समूह के साथ गठबंधन जरूरी हो जाता है, यही बसपा एवं ब्राह्मण गठजोड़ की नींव पड़ती है जिसमे बसपा कार्यकर्ताओं द्वारा ब्राह्मण सम्मलेन, ब्राह्मण रैलियां आदि की जाती है ताकि ब्राह्मण समुदाय का वोट प्राप्त कर राजनीतिक सत्ता प्राप्त की जा सके।